ना जा स्वामी परदेसा

अनुपम मिश्र

ढौंड गांव के पंचायत भवन में छोटी-छोटी लड़कियां नाच रही थीं। उनके गीत के बोल थेः ठंडो पानी मेरा पहाड़ मा, ना जा स्वामी परदेसा। ये बोल सामने बैठे पूरे गांव को बरसात की झड़ी में भी बांधे हुए थे। भींगते दर्शकों में ऐसी कई युवा और अधेड़ महिलाएं थीं, जिनके पति और बेटे अपने जीवन के कई बसंत 'परदेस' में ही बिता रहे हैं। ऐसे वृद्ध भी इस कार्यक्रम को देख रहे थे, जिनने अपने जीवन का बड़ा भाग 'परदेस' की सेवा में लगाया था। और भीगी दरी पर वे छोटे-बच्चे भी थे, जिन्हें शायद कल परदेस चले जाना है।

एक गीत पहाड़ों के इन गांवों से लोगों का पलायन भला कैसे रोक पाएगा? लेकिन गीत गाने वाली टुकड़ी गीत गाती जाती है। आज ढोंड गांव में है तो कल डुलमोट गांव में। फिर जन्द्रिया में, भरनों में, उफरैंखाल में। यह केवल सांस्कृतिक आयोजन नहीं है। इसमें कुछ गायक हैं, नर्तक हैं, एक हारमोनियम, ढोलक है तो सैकड़ों कुदाल-फावड़े भी हैं जो हर गांव में कुछ ऐसा काम रहे हैं कि वहां बरसकर तेजी से बह जाने वाला पानी वहां कुछ थम सके, तेजी से बह जाने वाली मिट्टी वहीं रुक सके और इन गांवों में उजड़ गए वन, उजड़ गई खेती फिर से संवर सके। आधुनिक विकास की नीतियों ने यहां के जीवन की जिस लय को, संगीत को बेसुरा किया है, उसे फिर से सुरीला बनाने वालों की टोली है यह दूधातोली की।

पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड के दूधातोली इलाके के उफरैंखाल में आज से कोई 21 बरस पहले बनी यह छोटी-सी टोली आज यहां के कोई 100 गांवों में फैल गई है और इस क्षेत्र में अपने काम को खुद करने का वातावरण बना रही है। अपने काम में हैं अपने वन, अपना पानी, अपना चारा, अपना ईंधन और अपना माथा, स्वाभिमान।

इस टोली के विनम्र नायक हैं शिक्षक सच्चिदानंद भारती। वे उफरैंखाल के इंटर कालेज में पढ़ाते हैं। सन् 1979 में वे चमोली जिले के गोपेश्वर महाविद्यालय में पढ़ रहे थे। उसी दौर में वहां प्रसिद्ध चिपको आंदोलन ने जन्म लिया था।

भारती ने अपनी कालेज की पढ़ाई के अलावा उस दौर में एक सजग छात्र के नाते पहाड़ के जीवन के पर्यावरण की पढ़ाई में भी पूरी निष्ठा से रुचि ली थी। वे चिपको आंदोलन के जनक श्री चंडीप्रसाद भट्ट के साथ आंदोलन के कई मोर्चों पर लड़े भी थे और बाद में उसके रचनात्मक पक्ष में भी सक्रिय रहे थे। संघर्ष और रचना का संयुक्त पाठ उन्होंने वहीं से सीखा था।

सन् 1979 में अपनी पढ़ाई पूरी कर वे पौड़ी जिले में अपने गांव गाडखर्क, उफरैंखाल लौटे थे। उन्हीं दिनों उन्हें गांव में खबर मिली कि उत्तराखंड के मध्य में स्थित दूधातोली क्षेत्र में वन विभाग फर-रागा के पेड़ों का कटान कर रहा है। हिमालय में रागा प्रजाति भोजवृक्ष की तरह ही धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। पुराने पेड़ जा रहे हैं और जो नए पौधे पनपने चाहिए, वे पनप नहीं पा रहे हैं।

श्री भारती को लगा कि इस कटान को तो हर कीमत पर रोकना चाहिए। वे अपने कुछ साथियों के साथ दूधातोली वन क्षेत्र से जुड़े गांवों की ओर चल पड़े। गांवों में पदयात्रा के माध्यम से जगह-जगह लोगों को यह समझाने की कोशिश की गई कि यह वन सरकार का जरूर है पर इसके कटान का, इसके विनाश का पहला बुरा झटका गांवों को भोगना पड़ेगा। यह वन भले ही हमारा न हो पर विनाश हमारा ही होगा। सब लोग साथ दें तो इस विनाश को रोका जा सकता है।

लोगों की जागृति का, एक जुट होने का यह किस्सा काफी पुराना और लंबा भी है। यहां उसे दुहराना आवश्यक नहीं है। बस इतना ही बता देना काफी है कि कई बार अच्छे ढंग से रखी गई बात सरकार और उसके अधिकारी भी समझ लेते हैं और हमेशा संघर्ष, टकराव का रास्ता लेना जरूरी नहीं होता। दूधातोली में भी यही हुआ।

ऐसी घटना उस क्षेत्र के लिए नई थी। इससे दो बातें निकलीं– एक तो यह कि लोग एक हो जाएं तो सरकार के गलत कामों, निर्णयों को भी रोका जा सकता है, बदला जा सकता है। और दूसरी यह कि अब जब एक बड़े विनाश को रोक ही लिया गया है तो फिर इसी स्थान से वनों के संवर्धन का काम क्यों न शुरू किया जाए।

एक पर्यावरण शिविर रखा गया। आसपास और कुछ दूर के लोगों को, गांवों को उफरैंखाल आने का न्योता दिया गया। सड़कों से बहुत दूर छोटा-सा गांव, हाथ में न कोई साधन, न कोई संपर्क। शिविर तो रख लिया पर इसके लिए पैसा चाहिए था। भोजन आदि पर कुछ तो खर्च होगा ही। किससे पूछें, किससे मांगे? नई दिल्ली के गांधी शांति प्रतिष्ठान को पत्र लिखा। एक हजार रुपए वहां से आए।

इस तरह जुलाई 1980 में दूधातोली क्षेत्र में पहला पर्यावरण शिविर संपन्न हुआ। लोगों ने अपने-अपने क्षेत्र की परिस्थिति, वनों की स्थिति, कहां क्या कितना उजड़ गया है आदि बातें एक दूसरे के सामने रखीं। जो घटनाएं चुपचाप घट रही थीं, उनका मौन तो टूटा। शिविर के अंत में सबने पास के वन क्षेत्र में जाकर पौधों का रोपण किया।

दूधातोली क्षेत्र में पहले शिविर से एक नए विचार का पौधा लगा इस तरह। तब इस विचार को रोपने वाले हाथों को भी पता नहीं था कि आगे चलकर यह इस क्षेत्र के ठीक विकास का एक मजबूत वृक्ष बन जाएगा और इसकी घनी छाया में कई और विचार पनपते जाएंगे।

दूधातोली क्षेत्र में पहले शिविर से एक नए विचार का पौधा लगा इस तरह। तब इस विचार को रोपने वाले हाथों को भी पता नहीं था कि आगे चलकर यह इस क्षेत्र के ठीक विकास का एक मजबूत वृक्ष बन जाएगा और इसकी घनी छाया में कई और विचार पनपते जाएंगे।

इस काम को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए सन् 1982 में एक संस्था बनी: 'दूधातोली लोक विकास संस्थान'। स्थापना के समय ही कुछ बातें तय की गई थीं। अपने क्षेत्र में पर्यावरण संवर्धन का काम तो करना ही है तो इसमें संस्था का आधार वहीं के लोग तथा देसी साधन हों, इसका पूरा ध्यान रखा जाएगा। यह भी योजना बनी कि शिविरों के माध्यम से यह सब काम किया जाएगा। जल्दी ही समझ में आ गया कि वनीकरण करना है तो अपनी जरूरत के पौधे भी तैयार खुद ही करने पड़ेंगे। संस्था बनाने में शिक्षकों की भूमिका प्रमुख थी, इसलिए आगे की योजनाओं में उनका ध्यान सबसे पहले अपने छात्रों की तरफ गया। तब स्कूलों में पर्यावरण संवर्धन एक विषय की तरह नहीं आया था। पर यहां तो यह पढ़ाई का नहीं, जीवन का एक अंग बन गया।

छात्रों ने अपने शिक्षकों की प्रेरणा से तरह-तरह के बीजों का संग्रह प्रारंभ किया। सबसे पहले इन लोगों ने अखरोट के पौधों की एक नर्सरी बनाई। इन पौधों की बिक्री प्रारंभ हुई। वहीं के गांवों से वहीं की संस्था को पौधों की बिक्री से कुछ आमदनी होने लगी। यह राशि फिर वहीं लगने जा रही थी। छोटे-छोटे साधनों से एक बड़े साध्य को साधने की एक लंबी यात्रा का प्रारंभ हुआ। एक के बाद एक शिविर लगते गए और उजड़े वन क्षेत्रों में धीरे-धीरे वनीकरण होने लगा।

इन शिविरों में रस्म पूरी नहीं की जाती थी। पूरा काम करने के लिए ये लगते थे, इसलिए कभी-कभी तो इनकी अवधि दस दिन तक भी होती। कभी

ये वन क्षेत्र में लगते तो, कभी गांवों के स्कूल में, पंचायत भवन में। ध्यान रखा जाता कि स्थान सार्वजनिक हो ताकि सभी लोग इनमें आ सकें। शिविर कहीं भी लगें, इनमें आसपास के पांच-दस गांवों के स्त्री-पुरुषों, बच्चों को जोड़ने की कोशिश होती थी। चूंकि शिविरों का मुख्य विषय ही घास, जंगल, पानी, खेती आदि हुआ करता– इसलिए धीरे-धीरे इनसे महिलाएं जुड़ती चली गईं। फिर इन्हीं शिविरों में हुई बातचीत से यह भी निर्णय सामने आया कि हर गांव में अपना वन बने। वह सघन भी बने ताकि ईंधन, चारे आदि के लिए महिलाओं की सुविधा बढ़ सके। इस तरह हर शिविर के बाद उन गांवों में महिलाओं के अपने नए संगठन उभर आए। ये महिला मंगल दल कहलाए।

ये महिला दल कागजी नहीं थे। कागज पर बने ही नहीं थे। कोई लेखा-जोखा, रजिस्टर, दस्तावेज नहीं। पूरे सच्चे मन से बने संगठन थे इसलिए शिविर चलाने वाली मुख्य मानी गई संस्था दूधातोली के कार्यालय में भी इनकी गिनती या ब्यौरा देखने नहीं मिलता। ऐसे महिला मंगल दलों की वास्तविकता तो उन गांवों में धीरे-धीरे ऊंचे उठ रहे, सघन हो चले वनों से ही पता चल सकती है।

ये महिला दल कागजी नहीं थे। कागज पर बने ही नहीं थे। कोई लेखा-जोखा, रजिस्टर, दस्तावेज नहीं। पूरे सच्चे मन से बने संगठन थे इसलिए शिविर चलाने वाली मुख्य मानी गई संस्था दूधातोली के कार्यालय में भी इनकी गिनती या ब्यौरा देखने नहीं मिलता। ऐसे महिला मंगल दलों की वास्तविकता तो उन गांवों में धीरे-धीरे ऊंचे उठ रहे सघन हो चले वनों से ही पता चल सकती है।

प्रतिदिन दल की सदस्याएं बारी-बारी से वन की रखवाली करती हैं। रखवाली का तरीका अपने आप में अनोखा और सुरीला, संगीतमय है।

एक लाठी है। लेकिन यह साधारण लाठी नहीं है। इसके ऊपरी सिरे पर बड़े आकार के दो-चार घुंघरू लगे हैं। इस लाठी का नाम है खांकर। खांकर लेकर महिलाएं वन में रखवाली करती हैं। हर कदम पर लाठी जमीन पर लगती है और खांकर के घुंघरू खनक जाते हैं। एक खांकर की संगीतमय ध्वनि वन की घनी चुप्पी को तोड़ती वन के दूसरे भागों में इसी तरह रखवाली कर रही अन्य महिलाओं को एक दूसरे से जोड़े रखती है। यह संगीतमय लाठी एक अन्य सुरीली व्यवस्था का भी अंग है। सांझ को वन की रखवाली के बाद महिलाएं गांव वापस आती हैं और अपनी खांकर अपने घर के दरवाजे के आगे न रख किसी अन्य महिला के दरवाजे पर टिका देती हैं। इसका अर्थ है कल उस घर की महिला खांकर लेकर वन रखवाली के

लिए निकलेगी। अपने बच्चों की तरह पाल पोसकर खड़े किए वनों की रखवाली, निगरानी, सार संभाल का यह घरेलू तरीका आज दूधातोली क्षेत्र के कोई 136 गांवों में बड़े नियम से, स्व अनुशासन से चल रहा है। प्रायः पगडंडियों से बंटे और पहाड़ों की चोटियों घाटियों में एक दूसरे से मीलों दूर बसे ये गांव बिना बाहरी पैसे के, आदेश के अपने दम पर खांकर के संगीत से जुड़ते गए।

इन शिविरों आयोजन हमेशा बड़ी सरलता से होता रहा हो– ऐसा नहीं है। बीच के कई वर्ष बड़ी कठिनाई के वर्ष थे। कहीं से भी कोई मदद नहीं थी। पर शिविरों की और काम की कड़ी कभी टूटने नहीं दी गई। गांवों ने अपने सीमित साधनों से इस असीमित काम को जारी रखने की बराबर कोशिश की।

1993 में प्रारंभ में सच्चिदानंद भारती ने अपने क्षेत्र में वनों के साथ पानी की परंपरा को भी समझना प्रारंभ किया। पहाड़ों में ताल तो आज भी हैं। इनकी संख्या तेज ढलानों के कारण कम ही रही है। पर खाल और चाल नामक दो और रूप भी यहां रहे हैं। वे पिछली सदी में लगभग मिट गए थे। दूधातोली का उफरैंखाल नाम स्वयं इस बात का प्रतीक था कि कभी यहां पानी का अच्छा प्रबंध रहा होगा। खाल ताल से छोटा रूप है तो चाल खाल से भी छोटा। ये ऊंचे पहाड़ों की तीखी ढलानों पर भी बनती रही हैं। पर अब तो ये सामने थी नहीं। नया काम कैसे करें? किसी को कुछ पता नहीं था। इसलिए कुछ आपसी बातचीत, कुछ अंदाज, कुछ प्रयोग से वनों के संवर्धन के साथ पहाड़ों में जल संरक्षण के काम को जोड़ा। एक से एक जुड़ा तो योग दो न होकर ग्यारह हो गया। इकाई से इकाई मिली और दहाई परिणाम सामने आने लगे।

दूधातोली क्षेत्र में चाल बनाने का काम गाडखर्क गांव से, उफरैंखाल से प्रारंभ हुआ पर फिर तो यह जंगल की आग की तरह फैलने लगा। आज इस क्षेत्र में कोई 35 गांव में खाली पड़ी बंजर जमीन पर, पानी की कमी से उजड़ गए खेतों में और अच्छे घने वनों तक में कोई 7000 चालें वर्ष भर चांदी की तरह चमकती हैं। उत्तराखंड में जब सन् 1999 में सभी जगह पानी की बेहद कमी थी, अकाल पड़ रहा था तब दूधातोली क्षेत्र में अप्रैल, मई, जून के महीनों में भी चालों में लबालब पानी भरा रहा। आज सन् 2010 में इस इलाके में कोई 20,000 छोटी-बड़ी चाल बन चुकी हैं।

चालों के चलन की फिर से वापसी ने इस क्षेत्र में अनेक परिवर्तन किए हैं। उजड़े खेतों में फिर से फसल लगाने की तैयारी हो रही है। बंजर वन भूमि में साल भर पानी रहने के कारण प्रकृति स्वयं अपने अनेक अदृश्य हाथों से उसमें घास और पौधे लगा रही है तो ठीक पनपन चुके वनों में और अधिक सघनता आ रही है। घास, चारा, ईंधन और पानी– इनके बिना पर्वतीय व्यवस्था चरमरा गई थी।

आज यहां फिर से जीवन का मधुर संगीत वापस लौट रहा है। 'घास, चारा, पानी– यों के बिना योजना कानी' का नारा भी यहां चलता है।

चाल का जो काम जंगलों में आग की तरह फैला है, उसने जंगलों की आग को भी समेटने में अद्‌भुत भूमिका निभाई है। उत्तराखंड और देश के अन्य पर्वतीय क्षेत्रों में हर वर्ष गरमी के महीनों में वनों में बड़े पैमाने पर आग लगने की घटनाएं होती हैं। इन्हें बुझाने का कोई कारगर तरीका अभी तक वन विभाग के हाथ नहीं आया है। जब भी इस विषय पर बहस होती है तो हमारा वन विभाग रूस, ग्रीस, स्पेन, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के वन क्षेत्रों का उदाहरण देकर हेलिकॉप्टरों के उपयोग की वकालत करता है। वह यह भूल जाता है कि वहां हैलिकाप्टरों से भी आग नहीं बुझती है। ये घटनाएं हर साल बढ़ती ही जा रही हैं।

वनों में आग एक बड़ी समस्या है। वर्षा के दिनों में बरसा पानी पहाड़ की चोटियों से नीचे घाटी में, नदी में चला जाता है। फिर ठंड का मौसम तो ठीक बीतता है पर गरमी की ऋतु आते ही सारा वन क्षेत्र तप जाता है। घास सूख जाती है और वन के वन सूखी घास के ढेर पर बस एक जरा-सी एक चिनगारी का इंतजार करते रहते हैं। मई 1998 में कोई 80,000 हेक्टेयर वन क्षेत्र आग में स्वाहा हुआ था। आज देश में प्रतिवर्ष वनों की आग से कोई 450 करोड़ रुपए की हानि होती है। लेकिन कीमती वन, पेड़ पौधे, घास, चारा और वन्य जीव के उस नुकसान को आप सरकारी आंकड़ों में, रुपयों में नहीं नाप सकते। प्रकृति की वर्षों की मेहनत, समाज के लिए पीढ़ियां की सुविधा अकाल, बाढ़ से रक्षा का सर्वोत्तम कवच– सब कुछ देखते ही देखते राख हो जाता है।

दूधातोली में जब से पानी का, चाल और खाल का काम प्रारंभ हुआ है, तब से यहां के वन आग से सुरक्षित हो चले हैं। सभी ग्राम वनों में बनी चालों के कारण उनमें गर्मी के तपते मौसम में भी नमी और इस कारण हरियाली बनी रही है, आग नहीं लग पाती। कहीं आग लग भी जाए तो यह लाचारी नहीं होती कि अब इसे कैसे बुझाया जाए। भरनों नामक गांव के अपने पाले वन में, मई 1998 में आग जरूर लगी थी पर चालों की उपस्थिति के कारण वह जल्दी ही नियंत्रण में आ गई थी। पर इसी गांव के पास का सरकारी वन आग से बच नहीं पाया था। इसी तरह जन्द्रिया गांव का सरकारी वन भी आग की भेंट चढ़ा था। यहां वन विभाग वनों को आग से बचाने की अपील करने वाले बोर्ड लगाने तो आता है पर आग बुझाने नहीं आ पाता। इन गांवों में लोगों ने चाल बनाकर अपने वन सुरक्षित किए हैं और शासकीय वनों में लगी आग को भी अपनी चालों के पानी से बुझाने का प्रयास किया है। सन् 1998 की मई में ऐसे प्रयासों में गांव की तीन महिलाएं आग बुझाते हुए स्वयं झुलस गई थीं और उन्हें बचाया नहीं जा सका था।

इन चालों ने या अब जिन्हें यहां जल तलाई भी कहा जाने लगा है, गांव में शासकीय जल प्रदाय योजनाओं को भी नया जीवन दिया है। उत्तराखंड के अनेक गांवों में पानी की कमी होने लगी है। हिमालय पानी का, नदियों का मायका भी कहलाता है। पर पानी के मायके में ही पानी नहीं बच पाता था। 'स्वजल' जैसी खर्चीली योजनाओं ने भी पैसा खूब बहाया पर पानी नहीं बह पाया है। एक सीमित क्षेत्र में ही सही पर लोगों की चालों ने यहां पानी का प्रश्न हल करके दिखाया है। अब पूरे वर्ष भर पानी खूब है। चालों ने सूख चुके नालों को, छोटी नदियों को, गदेरों को भी सरस कर दिया है।

उफरैंखाल के वन से निकलने वाली सूखारौला नदी वर्षा में उफन जाती थी और फिर नवंबर में ही सूख जाती थी। इसलिए इसका नाम ही सूखारौला पड़ चुका था। यहां सन् 1993 से 1998 तक कोई 1000 जल तलाई बनी होंगी– इन सबमें संचित जल की एक-एक बूंद ने सूखारौला का स्वभाव बदला। सूखे दिनों में भी उसमें पानी था। पर गांव ने धीरज रखा, एकदम नाम नहीं बदला। जब जनवरी 2001 में भी सूखा रौला सूखा नहीं तो कृतज्ञ गांव ने इसका नया नाम रखने का निर्णय लिया। क्या होगा नया नाम? नया नाम रखना कोई आसान काम नहीं था। पर इस कठिन काम को गांव ने अपनी श्रद्धा से गंगा के साथ जोड़ना ही उचित समझा। गांव का नाम गाडखरक तो नई नदी हो गई गाडगंगा। आज गाडगंगा वर्ष भर बहती है और फिर पसोली नदी में मिलकर उसे और भी समृद्ध कर रही है।

हिमालय के इन गांवों को उदारता से इतना लाभ बांटने वाली चाल स्वयं बहुत ही छोटी होती है। इस छोटेपन में ही इसका बड़प्पन छिपा है। जहां भी ठीक जगह मिली वहां 5 से 10 घनमीटर के आकर की जल तलाई बनाई जाती है। यह अपने आपसे कोई चमत्कार नहीं कर सकती। चमत्कार जल तलाई की श्रृंखला में छिपा है।

हिमालय के इन गांवों को उदारता से इतना लाभ बांटने वाली चाल स्वयं बहुत ही छोटी होती है। इस छोटेपन में ही इसका बड़प्पन छिपा है। जहां भी ठीक जगह मिली वहां 5 से 10 घनमीटर के आकर की जल तलाई बनाई जाती है। यह अपने आपसे कोई चमत्कार नहीं कर सकती। चमत्कार जल तलाई की श्रृंखला में छिपा है। जब ऊपर से नीचे तक पूरे ढलान को अनेक जल तलाई अपने छोटे-छोटे आकार से ढक देती हैं तब पानी का अक्षय भंडार बन जाता है। पानी पहाड़ी ढलानों में यहां-वहां से बहता है, इसलिए जल तलाई भी यहां-वहां ही बनाई जाती हैं और इस तरह हर जगह पानी एकत्र होता जाता है। इन सबमें

संग्रहीत पानी धीरे-धीरे रिसकर नीचे घाटी तक आता है। यहां घाटी में चालों से बड़े ढांचे, यानी खाल या ताल बनाए गए हैं। इनमें भी अब पूरे वर्ष पानी का भंडार बना रहता है।

चाल छोटी है आकार में और लागत में भी। कोई 50 से 100-200 रुपए में एक चाल बन जाती है। बनाने वाले इसे अपना काम मानकर बनाते हैं। इसलिए 50-100 की मदद भी कम नहीं मानते। वे इसे बनाते समय अपने को किसी का मजदूर नहीं मानते। वे इसके मालिक हैं और उनके स्वामित्व से सामाजिक समृद्धि साकार होती है। ऐसी सुदृढ़ समृद्धि पूरे समाज का आत्मविश्वास बढ़ाती है। उनका माथा ऊंचा करती है। तब यदि अचानक कोई बड़ी लेकिन अव्यावहारिक योजना वहां आ जाए तो लोगों के पैर नहीं डगमगाते।

संस्था के खर्च, इतने बड़े काम के लिए साधन जुटाने में भी भारती ने पहले ही दिन से विदेशी पैसा न लेने का नियम पक्का कर लिया था। और भी समाजसेवी संस्थाएं ऐसा करती हैं। फिर समय के साथ-साथ जरूरत आ पड़ने पर नियम को तोड़ भी लेती हैं। दूधातोली में यह नियम अभी तक टूटा नहीं है।

एक ऐसी ही योजना सन् 1998 में इस क्षेत्र की पूर्वी नयार घाटी में आई थी। जलागम विकास का काम था। समर्थन था विश्व बैंक जैसी संपन्न संस्था का। पर इन गांवों ने उसका समर्थन नहीं किया।

काम तो वही था जिसे ये गांव कर ही रहे थे– वनों का विकास। जलागम क्षेत्र का विकास। पैसे की कोई कमी नहीं थी। पूरी परियोजना की लागत 90 करोड़ रुपए थी। गांव-गांव में जब इस योजना का बखान करने वाले बड़े-बड़े बोर्ड लग गए तब सच्चिदानंद भारती ने वन विभाग के जिम्मेदार अधिकारियों को एक छोटा-सा पत्र भर लिखा था। उसमें उन्होंने बहुत विनम्रता से बताया था कि इस क्षेत्र में वनों का, पानी का अच्छा काम गांव खुद ही कर चुके हैं– बिना बाहरी, विदेशी या सरकारी मदद के। तब यहां इन 90 करोड़ रुपयों से और क्या काम करने जा रहे हैं आप? भरोसा न हो तो कुछ अच्छे अधिकारियों का एक दल यहां भेंजें, उससे जांच करवा लें और यदि हमारी बात सही लगे तो कृपया इस योजना को यहां से वापस ले लें।

शायद देश में पहली बार ही ऐसा हुआ होगा कि सचमुच वन विभाग का एक दल यहां आया और इस क्षेत्र में पहले से ही लगे, पनपे और पाले गए सुंदर घने वनों को देखकर न सिर्फ चुपचाप लौट गया, बल्कि अपने साथ 90 करोड़ की योजना भी समेट ले गया।

वनों के गांव, हिमालय के कुछ थोड़े से गांव तय कर लें तो वे बिना बाहरी मदद, विदेशी पैसे, सरकारी पैसे के अपने और अपने थोड़े से शुभचिंतकों के सहारे से कोई एक शताब्दी की गलतियों को 20 वर्षों में सुधार कर कितना बड़ा काम खड़ा कर दिखा सकते हैं। इसमें केवल उत्तराखंड ही नहीं, सभी पर्वतीय क्षेत्रों के सुधार के बीज छिपे हैं।

पर्वत जैसे इस साध्य को पाने के लिए दूधातोली लोक विकास संस्थान के कार्यकर्ताओं ने साधनों के संबंध में भी एक अलग ही साधना की है। 136 गांवों में ऐसा सुंदर काम करने वाली संस्था में केवल पांच कार्यकर्ता हैं।

प्रमुख हैं श्री सच्चिदानंद भारती। ये उफरैंखाल के इंटर कॉलेज में शिक्षक हैं। वेतन शिक्षा विभाग से मिलता है। बच्चों को प्रेम से पढ़ाते हैं और बचे हुए समय में पूरे समय ही समाज सेवा करते हैं। भारती ने शिक्षा को, समाज की सेवा की शिक्षा को सचमुच छोटे से स्कूल की चारदीवारी से बाहर निकाल पूरी पट्टी में नीचे घाटियों से लेकर ऊपर की चोटियों तक फैलाया है। दूसरे कार्यकर्ता श्री दिनेश हैं। संस्था के अब ये मंत्री हैं। ये उफरैंखाल गांव में ही दवाओं की एक छोटी-सी दुकान चलाते हैं। जब भी समाज का, संस्था का काम आता है, वे दवा की दुकान का शटर गिराकर सेवा का द्वार खोल लेते हैं। वे भी संस्था से वेतन नहीं लेते। तीसरे कार्यकर्ता हैं श्री दीनदयालजी। वे जीविका के लिए डाकिए का काम करते हैं। डाक भी बांटते हैं और साथ-साथ दूधातोली संस्थान के माध्यम से लोगों का दुख दर्द भी बांट लेते हैं। अपने क्षेत्र में पर्यावरण के संवर्धन की पाती, चिट्ठी भी दूर-दूर पैदल पहुंचाते हैं। और उनकी इस पाती को सब पढ़ते हैं। चौथे हैं विक्रमजी। ये भी गांव डुलमोट में अपनी पैतृक पनसारी दुकान का काम देखते हैं। पांचवें हैं हरिसिंहजी। ये खेती करते हैं। और फिर कोई सौ गांवों में फैले हैं संस्था के स्वयंसेवक। इनकी संख्या होगी लगभग एक हजार। इनमें उन महिलाओं की संख्या कोई पांच सौ होगी जो सुबह से शाम तक खांकर लेकर अपने वनों की रखवाली करती हैं।

संस्था के खर्च, इतने बड़े काम के लिए साधन जुटाने में भी भारती ने पहले ही दिन से विदेशी पैसा न लेने का नियम पक्का कर लिया था। और भी समाजसेवी संस्थाएं ऐसा करती हैं। फिर समय के साथ-साथ जरूरत आ पड़ने पर नियम को तोड़ भी लेती हैं। दूधातोली में यह नियम अभी तक टूटा नहीं है।

साधनों को जुटाने और उन्हें इतनी किफायत से खर्च करने का असर दूसरों पर भी पड़ता है। संस्था रजिस्टर्ड है। हर वर्ष उसे अपनी आमदनी और खर्च का आडिट करना पड़ता है। लेकिन इस काम को करने वाले आडिटर इस संस्था के लिए अपनी सेवाएं निशुल्क देते हैं। संस्था भी पूरी आडिट रिपोर्ट अपने क्षेत्र के

छोटे-बड़े अखबारों में वितरित कर देती है। वे इसे छापकर सार्वजनिक बना देते हैं। सार्वजनिक काम की जानकारी सार्वजनिक हो जाती है।

इस क्षेत्र के ये गांव कोई 4000 फुट से 7000 फुट की ऊंचाई पर बसे हैं। साल भर मौसम खूब ठंडा रहता है। ठंड के मौसम में अधिकांश भाग बर्फ की चादर से ढंक जाता है। ऐसे ठंडे क्षेत्रों में वनस्पति का विस्तार भी बहुत धीरे-धीरे होता है। और कीमती उपजाऊ मिट्टी भी धीरे-धीरे ही बन पाती है। लेकिन तीखी ढलानों के कारण वर्षा के मौसम में इस कीमती मिट्टी को नीचे मैदान की ओर बहने में जरा भी देरी नहीं लगती। तेज बहता पानी अपने साथ और भी तेजी से मिट्टी काटकर, बहाकर ले जाता है। ऐसे में मिट्टी और पानी का संरक्षण दो-चार साल का नहीं, कुछ सदियों का काम बन जाता है।

इस काम को करने वाले आडिटर इस संस्था के लिए अपनी सेवाएं निशुल्क देते हैं। संस्था भी पूरी आडिट रिपोर्ट अपने क्षेत्र के छोटे-बड़े अखबारों में वितरित कर देती है। वे इसे छापकर सार्वजनिक बना देते हैं। सार्वजनिक काम की जानकारी सार्वजनिक हो जाती है।

दूधातोली का यह काम इसलिए बहुत ही धीरज के साथ खड़ा किया गया है। इसमें लक्ष्य संख्या, आंकड़ों या पैसों, रुपयों का नहीं, चुपचाप काम का रखा गया है। इसलिए दूधातोली का यह दल शायद ही कभी अपना क्षेत्र छोड़ बाहर निकल पाता है। बाहर के लोग, कुछ मित्र, शुभचिंतक यहां कभी-कभी ही आ पाते हैं। तब उनका बहुत ही आत्मीय स्वागत होता है। देवपूजन में काम आने वाली पैंया की पत्ती की सादी लेकिन भव्य माला में बुरांस का एकाध फूल पूरे गांव की आतिथ्य भावना को आनंद में बदल देता है। खेत और वनों के फूल शिविरों को नए ढंग से रंग देते हैं। संगीत टुकड़ी का स्वर, ढोल नगाड़े, रंगसिंगे पूरी घाटी में गूंजने लगते हैं। मिट्टी और पानी को 'परदेस' जाने से रोकने के लिए

मध्य प्रदेश शासन ने सन् 2011 का अपना प्रतिष्ठित राष्ट्रीय महात्मा गांधी सम्मान दूधातोली लोक विकास संस्थान को प्रदान किया है।

*